RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-3, जून जुलाई अगस्त 2025

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 3 जून-जुलाई-अगस्त-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

उपनिषदों में वर्णित परा एवं अपरा विद्या का विवेचन

डॉ. किरण बड़ेरिया
सहायक आचार्य (समाज विज्ञान विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

उपनिषदों में वर्णित परा एवं अपरा विद्या की अवधारणा भारतीय दार्शनिक चिंतन की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और गूढ़ परंपरा को अभिव्यक्त करती है। यह सर्वमान्य तथ्य है कि मानव की आवश्यकता ही उसे नवीन खोजों और आविष्कारों की ओर प्रवृत्त करती है। प्राचीन काल में मनुष्य की जीवन-निर्वाह संबंधी आवश्यकताएँ अत्यंत सीमित थीं और प्रकृति स्वयं उनके अधिकांश भौतिक साधनों की पूर्ति कर देती थी। इसलिए उस युग में भौतिक आविष्कार, संग्रह और प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति आज की तुलना में कम दिखाई देती है। तथापि, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्राचीन मानव बौद्धिक रूप से पिछड़ा हुआ था। वस्तुतः वह आधुनिक युग के किसी भी वर्ग—अशिक्षित, शिक्षित, संभ्रांत अथवा बुद्धिजीवी—से कहीं अधिक जिज्ञासु, चिंतनशील और प्रश्नाकुल था। उसकी जिज्ञासा भौतिक सुखों तक सीमित न होकर जीवन के मूल प्रश्नों, जैसे जन्म और मृत्यु के रहस्य, आत्मा की प्रकृति और परम सत्य की खोज की ओर उन्मुख थी।

इसी गहन जिज्ञासा और आध्यात्मिक अन्वेषण का परिणाम उपनिषद् हैं। उपनिषद् केवल ग्रंथ नहीं, बल्कि मानव चेतना के उच्चतम अनुभवों का संकलन हैं। इनमें निहित ज्ञान आज भी आध्यात्मिक शांति और आत्मबोध की प्राप्ति के अद्भुत साधन के रूप में विद्यमान है। वैदिक संस्कृति में आरंभ से ही विद्या को एकांगी नहीं माना गया, बल्कि उसे दो व्यापक श्रेणियों में विभाजित कर देखा गया—परा विद्या और अपरा विद्या। उपनिषदों में गुरुओं द्वारा शिष्यों को यह स्पष्ट परामर्श दिया गया है कि जीवन की पूर्णता के लिए दोनों प्रकार की विद्याओं का ज्ञान आवश्यक है।

मुंडकोपनिषद् में गुरु परंपरा के अंतर्गत आए आचार्य अंगिरा अपने जिज्ञासु शिष्य शौनक को बताते हैं कि ब्रह्मवित् पुरुषों का यह मत है कि मनुष्य को दो विद्याओं का ज्ञान होना चाहिए। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ-साथ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष जैसे वेदांगों का ज्ञान अपरा विद्या के अंतर्गत आता है। यह विद्या मनुष्य को संसार में जीवन यापन, कर्मकांड, भाषा, अनुशासन, समय-ज्ञान और सामाजिक व्यवस्था का बोध कराती है। अपरा विद्या का क्षेत्र व्यापक है और यह मानव जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, किंतु इसकी सीमा यहीं तक है।

इसके विपरीत परा विद्या वह है जिसके द्वारा उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है, जो नाशरहित, अविनाशी और परम सत्य है। परा विद्या का उद्देश्य बाह्य संसार के ज्ञान से आगे बढ़कर आत्मा और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार कराना है। यह विद्या मनुष्य को अज्ञान के बंधन से मुक्त कर आत्मबोध की ओर ले जाती है। उपनिषदों के अनुसार, केवल अपरा विद्या में निपुण होना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उससे केवल

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

सांसारिक कुशलता प्राप्त होती है; वहीं परा विद्या के अभाव में मोक्ष या परम शांति की उपलब्धि संभव नहीं।

उपनिषदों की दार्शनिक परंपरा में परा और अपरा विद्या का भेद केवल नामगत नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि और लक्ष्य की भिन्नता को स्पष्ट करता है। अपरा विद्या को जहाँ भौतिक विद्या या अविद्या कहा गया है, वहीं परा विद्या को वास्तविक अर्थों में 'विद्या', 'अध्यात्मविद्या' अथवा 'ब्रह्मविद्या' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। कठोपनिषद् इस भेद को अत्यंत सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करता है और विद्या को श्रेयमार्ग अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाने वाला मार्ग तथा अविद्या को प्रेयमार्ग अर्थात् वह मार्ग जो तत्काल प्रिय और आकर्षक तो लगता है, किंतु अंततः बंधन में ही बनाए रखता है, बतलाता है। इस प्रकार उपनिषद् यह स्पष्ट करते हैं कि जो मार्ग इंद्रियों को तात्कालिक सुख देता है, वही आवश्यक नहीं कि आत्मा के कल्याण का मार्ग भी हो।

वस्तुतः उपनिषदों में वर्णित अपरा विद्या को आधुनिक काल की भौतिक या लौकिक विद्या का तत्कालीन रूप माना जा सकता है। इसका मुख्य उद्देश्य जीवन-निर्वाह के साधन उपलब्ध कराना, सामाजिक और बौद्धिक संरचना को व्यवस्थित करना तथा मनुष्य को संसार में कुशल बनाना है। चूँकि भौतिक आवश्यकताएँ समय, समाज और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं, इसलिए अपरा विद्या का स्वरूप भी स्थिर नहीं रहता। यही कारण है कि उपनिषद्काल में भी इसके स्वरूप में परिवर्तन और विस्तार दिखाई देता है। मुण्डकोपनिषद् में जहाँ वेद और वेदाङ्गों की शिक्षा को ही अपरा विद्या की परिधि में रखा गया है, वहीं छान्दोग्योपनिषद् में इसका क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और विकसित रूप में सामने आता है।

छान्दोग्योपनिषद् का प्रसंग विशेष रूप से इस तथ्य को उजागर करता है। जब महर्षि नारद ज्ञान की तृष्णा लेकर सनत्कुमार के पास पहुँचते हैं और उनसे आत्मतत्त्व के ज्ञान की प्रार्थना करते हैं, तो सनत्कुमार उन्हें सीधे उपदेश देने के स्थान पर पहले यह बताने को कहते हैं कि वे अब तक क्या जानते हैं। इसका आशय यह है कि अपरा विद्या की पूर्ण जानकारी के बिना परा विद्या की ओर अग्रसर होना संभव नहीं है। नारद द्वारा प्रस्तुत ज्ञान-सूची यह दर्शाती है कि उस समय अपरा विद्या कितनी व्यापक और बहुविध थी। नारद बताते हैं कि उन्होंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ-साथ इतिहास-पुराण, वेदाङ्ग, पित्र्यविद्या, गणित, उत्पात विज्ञान, अर्थशास्त्र, तर्क या कानून, नीतिशास्त्र, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, प्राणिविज्ञान, शस्त्रास्त्र विद्या, ज्योतिष, विषविज्ञान तथा ललित कलाओं तक का अध्ययन किया है।

स्पष्ट है कि उपनिषद्कालीन समाज में भौतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, नैतिक और कलात्मक सभी प्रकार के ज्ञान को महत्व दिया जाता था और यह सब अपरा विद्या के अंतर्गत आता था। किंतु इतना व्यापक ज्ञान होने के बावजूद नारद स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे केवल नामों और शब्दों का ज्ञाता हैं, आत्मा के सत्य से अभी अनभिज्ञ हैं। यहीं से उपनिषदों का केंद्रीय संदेश उभरता है कि अपरा विद्या चाहे कितनी ही विस्तृत क्यों न हो, वह मनुष्य को अंतिम शांति और मुक्ति प्रदान नहीं कर सकती। इसके लिए परा विद्या, अर्थात् ब्रह्मज्ञान, अनिवार्य है।

इन उदाहरणों से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारतीय समाज में परा और अपरा— दोनों प्रकार की विद्याएँ समान रूप से प्रचलित थीं और जीवन की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती थीं। अपरा विद्या का उद्देश्य मनुष्य को सांसारिक जीवन में सक्षम बनाना था। इसके माध्यम से लोग भौतिक साधनों की प्राप्ति कर अपने लौकिक जीवन को सुख, सुविधा और व्यवस्थित ढंग से पूर्ण करने का

प्रयास करते थे। इसके विपरीत परा विद्या का लक्ष्य सांसारिक सुखों से आगे बढ़कर परम सत्य के साक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति था। इस प्रकार अपरा विद्या जहाँ जीवन को सुचारु रूप से जीने की कला सिखाती थी, वहीं परा विद्या जीवन के अंतिम उद्देश्य को उद्घाटित करती थी।

इसी संतुलित दृष्टिकोण के कारण ईशोपनिषद् दोनों विद्याओं की उपासना को अनिवार्य बतलाता है। ईशोपनिषद् का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि जो व्यक्ति विद्या और अविद्या—दोनों को भलीभाँति जान लेता है, वही अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करता है और विद्या के द्वारा अमृतत्त्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। इसका तात्पर्य यह है कि केवल परा विद्या का उपदेश देकर अपरा विद्या की उपेक्षा करना उपनिषदों का उद्देश्य नहीं है। अपरा विद्या मनुष्य को जीवन-संघर्ष से जूझने की क्षमता देती है और परा विद्या उसे उस संघर्ष से ऊपर उठाकर शाश्वत शांति तक पहुँचाती है। दोनों का समन्वय ही पूर्ण जीवन-दृष्टि का निर्माण करता है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बिंदु यह भी है कि जिन अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डों तथा ऋग्वेदादि ग्रंथों के अध्ययन को आज प्रायः आध्यात्मिक विद्या कह दिया जाता है, उपनिषदों की दृष्टि में वे परा विद्या नहीं हैं। आदि गुरु शंकराचार्य ने इस विषय को अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड अविद्या के अंतर्गत आते हैं, क्योंकि ये कर्म मनुष्य को कर्मफल और पुनर्जन्म के बंधन में ही बाँधते हैं। शंकराचार्य के शांकरभाष्य में यह स्पष्ट कहा गया है कि विद्या का स्वरूप ज्ञाननिष्ठा है, जबकि अविद्या का स्वरूप अग्निहोत्रादि कर्मों से युक्त कर्मकाण्ड है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान के बीच का मौलिक अंतर वेदान्त परंपरा में स्पष्ट रूप से स्थापित किया गया है।

मुण्डकोपनिषद् भी कर्मकाण्ड की सीमाओं और उसकी निरर्थकता को अत्यंत कठोर शब्दों में प्रतिपादित करती है। उपनिषद् यज्ञों और यागों को भवसागर पार कराने वाले बेड़ों के रूप में प्रस्तुत करती है, किंतु साथ ही यह भी कहती है कि ये बेड़े दृढ़ नहीं हैं, बल्कि ढीले और अविश्वसनीय हैं। इसलिए इन्हें वास्तविक विद्या नहीं, बल्कि अपरा विद्या या अविद्या कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् में अठारह प्रकार के कर्मों का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि ये सभी अवर हैं, श्रेष्ठ नहीं। जो मूढ़ व्यक्ति इन यज्ञीय कर्मों को ही श्रेय मानकर उनमें आनंद खोजते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु के चक्र में फँसते रहते हैं। इस कथन के माध्यम से उपनिषद् यह संदेश देती है कि कर्मकाण्ड में आसक्त रहकर मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में ऋग्वेदादि ग्रंथों के अध्ययन को भी अंतिम सत्य का ज्ञान नहीं, बल्कि केवल शब्दज्ञान या नामज्ञान मात्र कहा गया है। जब सनत्कुमार नारद से संवाद करते हैं, तो वे यह स्वीकार करते हैं कि नामज्ञान आत्मवित् बनने की दिशा में पहला सोपान अवश्य है, किंतु अंतिम लक्ष्य नहीं। सनत्कुमार नारद को उपदेश देते हैं कि नाम की उपासना से आरंभ करो, शब्दज्ञान से आगे बढ़ो, परंतु वहीं ठहर मत जाओ। इसका आशय यह है कि शास्त्रों का अध्ययन, मंत्रों का ज्ञान और कर्मकाण्ड का अभ्यास आत्मज्ञान की भूमिका तो बना सकता है, किंतु वही परा विद्या नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य अत्यंत स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि प्राचीन काल में जिन विद्याओं को अपरा विद्या, अर्थात् भौतिक या लौकिक विद्या कहा जाता था, वही आज के समय में परा विद्या के रूप में प्रतिष्ठित कर दी गई हैं। इसके विपरीत, उस युग में जो वास्तविक परा विद्या—अर्थात्

अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या थी, वह आज के जीवन से लगभग लुप्तप्राय हो गई है। वर्तमान काल में विद्या का मूल्यांकन उसके आध्यात्मिक या आत्मिक उद्देश्य के आधार पर नहीं, बल्कि उसके आर्थिक लाभ और धनोपार्जन की क्षमता के आधार पर किया जाने लगा है। अपरा विद्या का भी केवल वही पक्ष महत्त्वपूर्ण माना जाता है जो रोजगार, आय और भौतिक उन्नति से जुड़ा हुआ है, जबकि परा विद्या को प्रायः अतीत की वस्तु या केवल इतिहास और दर्शन का विषय मान लिया गया है।

यह स्थिति उपनिषदों की मूल भावना के सर्वथा विपरीत है। उपनिषदों का केंद्रीय और प्रमुख प्रतिपाद्य विषय परा विद्या ही है। सभी उपनिषदों में अपरा विद्या को सीमित, साधनरूप और परा विद्या को श्रेष्ठ, साध्यरूप बताया गया है। उपनिषद् बार-बार इस बात पर बल देते हैं कि अपरा विद्या मनुष्य को संसार में स्थिरता और सुविधा प्रदान कर सकती है, किंतु उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं कर सकती। इसके लिए परा विद्या का आत्मसात् करना अनिवार्य है। इसी कारण उपनिषदों में अपरा विद्या को साधन और परा विद्या को परम लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि सनत्कुमार और नारद के संवाद के माध्यम से परा विद्या की गहन व्याख्या की गई है। सनत्कुमार नारद से कहते हैं कि बिना सुख के कोई भी व्यक्ति किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। मनुष्य तभी कर्म करता है जब उसे सुख की आशा होती है, इसलिए सुख के वास्तविक स्वरूप को जानने की इच्छा करनी चाहिए। यहाँ उपनिषद् लौकिक सुख और आत्मिक आनंद के बीच स्पष्ट भेद करता है। सनत्कुमार बताते हैं कि जो क्षुद्र है, सीमित है, उसमें वास्तविक सुख नहीं हो सकता। सच्चा सुख केवल 'भूमा' में है, अर्थात् उस परम व्यापक और अनंत सत्ता में जो किसी सीमा में बंधी नहीं है।

छान्दोग्योपनिषद् में 'भूमा' की अवधारणा परा विद्या का सार प्रस्तुत करती है। भूमा वह अवस्था है जिसमें आत्मा किसी अन्य वस्तु को न देखती है, न सुनती है और न ही किसी भिन्न सत्ता को जानती है। यह पूर्ण अद्वैत की अवस्था है, जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद समाप्त हो जाता है। उपनिषद् यह भी स्पष्ट करता है कि भूमा किसी में प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि वही ऊपर है, वही नीचे है, वही आगे है, वही पीछे है, वही दाएँ है, वही बाएँ है और वही सब कुछ है। इस प्रकार भूमा को सर्वव्यापक, सर्वात्मभाव से युक्त और निरपेक्ष सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है।

उपनिषद् का यह कथन कि जो व्यक्ति आत्मा के भूमा रूप का साक्षात्कार कर लेता है, वह मृत्यु, रोग और दुःख को नहीं देखता, परा विद्या की चरम उपलब्धि को दर्शाता है। यहाँ 'न देखना' का अर्थ भौतिक दृष्टि से इनका अभाव नहीं, बल्कि इनके भय और बंधन से पूर्ण मुक्ति है। ऐसा व्यक्ति देह के स्तर पर भले ही संसार में रहता हो, किंतु चेतना के स्तर पर वह जन्म, जरा और मृत्यु से परे हो जाता है।

उपनिषदों में परा विद्या का चरम रूप 'भूमा' के साक्षात्कार में प्रकट होता है। भूमा का साक्षात् करने वाला साधक सीमित ज्ञान या आंशिक अनुभूति तक बँधा नहीं रहता, बल्कि उसके लिए समस्त यथार्थ उद्घाटित हो जाता है। वह सब कुछ देख लेता है, सब प्रकार से सब कुछ प्राप्त कर लेता है और उसके लिए जानने या पाने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। यह स्थिति पूर्णता की है, जहाँ अभाव, आकांक्षा और अपूर्णता का सर्वथा लोप हो जाता है। उपनिषदों की दृष्टि में यही परा विद्या की सर्वोच्च उपलब्धि है।

ईशोपनिषद् इसी अनुभूति को अद्वैत की भाषा में अभिव्यक्त करता है। वहाँ कहा गया है कि जिस

ज्ञानी के ज्ञान में समस्त भूत आत्मवत् हो जाते हैं—अर्थात् सबमें अपने ही आत्मतत्त्व का दर्शन होने लगता है—उसके लिए मोह और शोक का कोई स्थान नहीं रह जाता। जब यह बोध दृढ़ हो जाता है कि कण-कण में ईश्वर ही व्याप्त है और भूतों का जो अनेकत्व दिखाई देता है, वह वस्तुत: एक ही आत्मा की विविध अभिव्यक्ति है, तब द्वैत का आधार ही समाप्त हो जाता है। द्वैत के अभाव में न तो किसी के खोने का भय रहता है और न ही किसी की प्राप्ति का लोभ; परिणामस्वरूप मोह और शोक स्वत: विलीन हो जाते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मविद्या की यह यात्रा साधक के आंतरिक विकास के क्रम में प्रस्तुत की गई है। वरुण अपने पुत्र भृगु को ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं और भृगु प्रारंभ में स्थूल बुद्धि से अन्न को ही ब्रह्म मान लेता है। आगे चलकर वह प्राण, मन और विज्ञान को ब्रह्म समझता है, किंतु प्रत्येक स्तर पर उसे अनुभव होता है कि यह ज्ञान अभी पूर्ण नहीं है। गहन तपस्या और सूक्ष्म विवेक के द्वारा अंतत: वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आनंद ही ब्रह्म है। यहाँ आनंद किसी लौकिक सुख का नाम नहीं, बल्कि वह आत्मिक परिपूर्णता है जो ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ उद्भासित होती है। यह उदाहरण दर्शाता है कि परा विद्या एक क्रमिक साधना है, जो स्थूल से सूक्ष्म और अंतत: परम सत्य तक ले जाती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य का संवाद परा विद्या के व्यावहारिक और दार्शनिक दोनों पक्षों को अत्यंत मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है। जब मैत्रेयी ब्रह्मविद्या के स्वरूप के विषय में प्रश्न करती हैं, तो याज्ञवल्क्य यह स्पष्ट करते हैं कि संसार में जो भी जड़ या चेतन वस्तुएँ लोगों को प्रिय प्रतीत होती हैं, वे अपने आप में प्रिय नहीं होतीं, बल्कि आत्मा की कामना के कारण प्रिय होती हैं। पति पति के लिए नहीं, बल्कि आत्मा की तृप्ति के लिए प्रिय होता है; पत्नी, पुत्र, धन, शक्ति, लोक और देवता भी इसी कारण प्रिय हैं। इस प्रकार उपनिषद् यह उद्घाटित करता है कि प्रेम और आसक्ति का वास्तविक केंद्र बाह्य वस्तुएँ नहीं, बल्कि आत्मा ही है।

याज्ञवल्क्य का उपदेश यहाँ अपने शिखर पर पहुँचता है, जब वे मैत्रेयी से कहते हैं कि वही आत्मा द्रष्टव्य है, वही श्रोतव्य है, वही मन्तव्य है और वही निदिध्यासितव्य है। आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ही समस्त बंधन खुल जाते हैं और अज्ञान की सारी गाँठें स्वत: खुल जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जब आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब संसार की प्रत्येक वस्तु अपने वास्तविक रूप में समझ में आ जाती है और परा विद्या की पूर्णता सिद्ध हो जाती है।

ब्रह्मविद्या को उपनिषदों में 'मधुविद्या' कहा गया है और यह नाम अत्यंत अर्थपूर्ण है। मधुविद्या का आशय यह है कि जैसे मधु सबको प्रिय होता है, उसी प्रकार पृथिवी, जल आदि समस्त तत्त्व सभी प्राणियों को मधु के समान प्रिय हैं और ये सभी प्राणी भी उन तत्त्वों को मधु के समान प्रिय हैं। इस पारस्परिक प्रियता का वास्तविक कारण कोई भौतिक उपयोगिता नहीं, बल्कि वह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, जो पृथिवी आदि समस्त तत्त्वों में व्याप्त है। वही पुरुष व्यष्टि रूप में पिण्ड का आत्मा है। उपनिषद् स्पष्ट रूप से घोषित करता है कि आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है और आत्मा ही यह संपूर्ण जगत् है। इस प्रकार मधुविद्या के माध्यम से आत्मा और ब्रह्म की सर्वव्यापकता तथा उनकी एकरूपता का बोध कराया गया है।

सारत: समस्त विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि कि अपरा विद्या के द्वारा, चाहे प्राचीन काल हो या वर्तमान युग, मनुष्य धन-धान्य, संपत्ति और ऐश्वर्य के साधनों से युक्त होकर सुविधापूर्वक जीवन तो व्यतीत कर सकता है, किंतु इन साधनों के माध्यम से अमरता या मोक्ष की प्राप्ति की आशा नहीं

की जा सकती। इसी तथ्य को याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या का उपदेश देने से पूर्व स्पष्ट करते हुए कहा था कि साधनों से युक्त जीवन तो संभव है, परंतु वित्त से अमृतत्त्व की सिद्धि नहीं होती। इससे यह स्पष्ट होता है कि भौतिक साधन जीवन को सुगम बना सकते हैं, परंतु जीवन के परम लक्ष्य को नहीं दे सकते।

परा विद्या के अभाव में मनुष्य सुख, आनंद और प्रेम के उस मूलभूत तथा एकमात्र आश्रय को नहीं जान पाता, जिसमें इन सबका वास्तविक स्रोत निहित है। जब आश्रय का ही ज्ञान नहीं होगा, तो सुख, आनंद और प्रेम का स्वरूप भी केवल बाह्य, क्षणिक और अपूर्ण ही रहेगा। यही कारण है कि आज साधनों की प्रचुरता के बावजूद मनुष्य के जीवन में असंतोष और अशांति बनी रहती है। आधुनिक समाज, विशेषत: भारतीय समाज की यह बड़ी विडंबना है कि वह जिज्ञासा के अभाव में विरोचन की भाँति देह को ही आत्मा मान बैठा है और साधनों के संग्रह द्वारा केवल इहलोक को सुख-सुविधापूर्वक पूर्ण करना ही जीवन का उद्देश्य समझता है।

इसके विपरीत उपनिषद् इन्द्र के उदाहरण के माध्यम से यह शिक्षा देते हैं कि मनुष्य को जिज्ञासु बनकर आनंद के वास्तविक स्रोत और उसके मूल आश्रय की खोज करनी चाहिए। जब तक आत्मा और ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक मोक्ष, अमृतत्त्व अथवा शाश्वत आनंद की प्राप्ति संभव नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् का यह संदेश अत्यंत स्पष्ट है कि जीवन की पूर्णता बाह्य साधनों में नहीं, बल्कि आंतरिक बोध में निहित है।

अत: जैसे प्राचीन काल में परा विद्या और अपरा विद्या—दोनों का समन्वय जीवन में आवश्यक माना जाता था, उसी प्रकार आज भी अपरा विद्या के आधुनिक स्वरूप के साथ-साथ परा विद्या के उस शाश्वत उपनिषदिक स्वरूप को जानना और आत्मसात् करना अनिवार्य है। अपरा विद्या जीवन के साधनों को सुदृढ़ करती है, जबकि परा विद्या जीवन के लक्ष्य को प्रकाशित करती है। इन दोनों के संतुलन में ही मानव जीवन की वास्तविक सार्थकता और सफलता निहित है।

निष्कर्षत: उपनिषदों में परा और अपरा—दोनों विद्याओं को स्वीकार किया गया है, किंतु परा विद्या को अपरा विद्या से श्रेष्ठ और जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। अपरा विद्या मनुष्य को भौतिक साधन, सुविधा और लौकिक समृद्धि प्रदान करती है, परंतु उससे अमरता, शाश्वत सुख या मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। परा विद्या ही आत्मा और ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा दु:ख, भय और मृत्यु से मुक्ति दिलाती है। उपनिषदों का मूल संदेश यह है कि केवल भौतिक प्रगति पर्याप्त नहीं, बल्कि आत्मिक जिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान का आत्मसात् भी अनिवार्य है। अपरा और परा विद्या के संतुलित समन्वय में ही मानव जीवन की पूर्णता, सार्थकता और अंतिम सफलता निहित है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *मुण्डकोपनिषद्, शाङ्करभाष्य सहित, सम्पा. व अनुवाद: स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, पुनर्मुद्रण संस्करण, 2010*
2. *कठोपनिषद्, शाङ्करभाष्य सहित, अनुवाद: स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण 2007*

3. *ईशावास्योपनिषद्, शाङ्करभाष्य सहित, अनुवादः स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण 2009*

4. *छान्दोग्योपनिषद्,, शाङ्करभाष्य सहित, अनुवादः स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण 2008*

5. *तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, शाङ्करभाष्य सहित, अनुवादः स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण 2011*

6. *बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्करभाष्य सहित, अनुवादः स्वामी माधवानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, संस्करण 2006*

7. *शंकराचार्य, शाङ्करभाष्यः, स्रोतः बृहदारण्यक एवं ईशोपनिषद्–भाष्य, सम्पा.: स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता।*

8. *उपनिषद् (सम्पूर्ण संग्रह), संस्कृत मूल सहित हिन्दी/अंग्रेजी अनुवाद, सम्पा.: स्वामी निरंजनानन्द/स्वामी गम्भीरानन्द, अद्वैत आश्रम, कोलकाता*

9. *पावमानी, त्रैमासिक शोध पत्रिका, भाग द्वात्रिंशः, द्वितीय खण्ड, चैत्र, वि.सं. 2074, पावमानी संस्थान, वि.सं. 2074*